

यदि किसी विचार की अभिव्यक्ति से किसी समूह या समुदाय की भावनाएं आहत होती हैं तो ऐसे में एक लोकतांत्रिक राष्ट्र को क्या करना चाहिए? इस सवाल के जवाब में लेख कहता है कि ऐसी समस्याओं को पूरी संजीदगी से लिया जाना चाहिए और उसके लिए ऐसी प्रक्रियाएं तय की जानी चाहिए जो संवैधानिक मूल्यों को बढ़ावा दें और जो विवादों का सामना कर सकें। ऐसे मामलों की जांच-परख के लिए उपयुक्त निकाय बनाने चाहिए। लेख जोर देकर कहता है कि वह निकाय संसद नहीं हो सकता।

## संवैधानिक गणतंत्र के चश्मे से

विवादित किताबों का मामला

पीटर रोनाल्ड डिसूजा

**रा**ष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् की राजनैतिक विज्ञान की पाठ्यपुस्तकों ने एक अहम् नैतिक व राजनैतिक विवाद को ठीक ही पैदा किया है। दोनों ही बाजुओं की तरफ से न्यायसंगत रोष जाहिर किया गया है, जिसमें उन्होंने बचाव में अपने तर्कों के तीरों से भरे तरकश का इस्तेमाल करने की कोशिश की है।

उन तर्कों का दायरा, अभिव्यक्ति की आजादी के अधिकार के संदर्भ में संविधान सभा के सरोकारों को रेखांकित करने से लेकर, हमारे लोकतांत्रिक अभ्यास को परिभाषित करने वाली एक-दूसरे को पछाड़ने की राजनीति के अवलोकनों तक, इस रोमांचक दुनिया में समायोजित होने के लिए बेहद जरूरी है कि पाठ्यपुस्तकों के लिए नवाचारी शिक्षणशास्त्र को अपनाया जाए इसकी विस्तृत व्याख्या तक, राजनैतिक नेताओं को लगातार नीचा दिखाना हमारे लोकतंत्र को खोखला कर देगा - की राय तक, दलित/वंचित समूहों के प्रतीकों की हालत व प्रवृत्ति पर टिप्पणी करने तक और पहचान की राजनीति में अगर उनके बारे में कुछ भी आलोचनात्मक कहा जाए तो उस पर रोक लगाने की बढ़ती आदत, जो कि हमारे सार्वजनिक दायरे की निशानी बन गई है तथा आखिर में एक नियामक ढांचे की बहस, जिसके भीतर हम अपने संवैधानिक गणतंत्र को गढ़ना चाहते हैं, तक फैला हुआ है। पढ़ने की एक राजनीति भी प्रस्तावित की गई है।

इस व्यापक दायरे में फैले मुद्दों के बीच मैं भी एक मुद्दा जोड़ना चाहता हूँ, जो कि हमारे लोकतंत्र में बार-बार उठता रहता है

### परिचय

विकासशील समाज अध्ययनपीठ, दिल्ली में सीनियर फैलो एवं लोकनीति के सदस्य हैं और आजकल भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला के निदेशक हैं।

लेकिन जिस पर ध्यान केन्द्रित करके जितना विश्लेषण किया जाना चाहिए उतना किया नहीं गया है। इस मुद्दे को संबोधित करना जरूरी है क्योंकि यह उस संवैधानिक गणतंत्र के ठीक केन्द्र यानी हृदय पर स्थित है, जिसे हम गढ़ना चाहते हैं और इसलिए उसे नजरअंदाज कर देना या उसके साथ सतही मुद्दे की तरह बरताव करना बेहद ही दुर्भाग्यपूर्ण होगा। इस मुद्दे को कुछ नीचे लिखे सवालों की कड़ियों में कुछ इस तरह से बयान किया जा सकता है: भारत जैसे एक बहुलतावादी लोकतंत्र को क्या करना चाहिए जब नागरिकों का कोई एक समूह यह दावा करे कि उसे किसी दूसरे नागरिक या समूह द्वारा व्यक्त की गई किसी राय से बहुत ही गहरी चोट पहुंची है, जो कि किसी किताब, नाटक, चित्र, फिल्म, फोटो, लेख, गीत या कार्टून के रूप में है और यह मांग करे कि उस राय पर सार्वजनिक दायरे में प्रतिबंध लगा दिया जाना चाहिए? राज्य को कैसे जवाब देना चाहिए : इस मांग को नजरअंदाज कर देना चाहिए या इसे स्वीकार कर लेना चाहिए? दूसरे शब्दों में, हमें खुद से पूछना चाहिए कि अभिव्यक्ति की आजादी के लिए प्रतिबद्ध संस्कृति को मजबूत करने के ज्यादा फायदे के लिए हम कितना अपमान सहने के लिए तैयार हैं। या इस सवाल को किसी दूसरी तरह से पूछा जाना चाहिए : कि क्या कुछ चीजें इतनी पवित्र हैं कि वे व्यंग्यपूर्ण बरताव के लिए उपलब्ध नहीं हैं? क्या ऐसी पवित्र चीजों की संख्या बढ़ रही है अथवा कम हो रही है?

**इस सवाल को किसी दूसरी तरह से पूछा जाना चाहिए: कि क्या कुछ चीजें इतनी पवित्र हैं कि वे व्यंग्यपूर्ण बरताव के लिए उपलब्ध नहीं हैं? क्या ऐसी पवित्र चीजों की संख्या बढ़ रही है अथवा कम हो रही है?**

हमारे बहुलतावादी लोकतंत्र में किसी मत को प्रतिबंधित करने की मांग जिस गति से बढ़ रही है, वह चिंताजनक है क्योंकि सवालों के घेरे में आए मत के बारे में दावा किया गया है कि वह बेहद अपमानजनक है। विडंबना यह है कि यह सब इसलिए हो पा रहा है क्योंकि हमारे यहां लोकतंत्र है। जैसे ही कोई समूह अपनी आवाज उठाने के काबिल होता है, जैसे ही पहचान की राजनीति, राजनैतिक गतिशीलता और समूहों की सरहदों के मजबूतीकरण की बुनियाद बन जाती है; जैसे ही गठबंधन की राजनीति और नतीजे में तुष्टीकरण की राजनीति एक मानदंड बन जाती है, और जैसे ही सैद्धांतिक राजनीति की वजह से मिलने वाले दीर्घकालीन फायदों के बदले व्यवहारिक राजनीति के अल्पकालीन फायदों को तरजीह दी जाने लगती है और नतीजे में जो समूह यह दावा करता है कि किसी 'मत' से उसे गहरी चोट पहुंची है, उसकी सीमा-रेखा यानी दहलीज कम से कमतर होती जाती है। मौजूदा मामले की शुरुआत संसद में अंबेडकर पर बने एक कथित तौर पर अपमानजनक कार्टून को पाठ्यपुस्तक से हटाने की मांग को लेकर आरंभ हुई थी, जो बढ़कर सभी कार्टूनों को हटाने में तब्दील हुई और आखिरकार पूरी किताब को ही वापस ले लेने पर जाकर खत्म हुई, यह सब अपने-आपमें इस बिंदु के लिए एक मामला बनाता है।

मैं इस लेख में विश्लेषण के लिए चुने गए विषय को संक्षेप में 'पाठ्यपुस्तक विवाद' कहूंगा, क्योंकि मैं हमारे युवा संवैधानिक गणतंत्र के कुछ केन्द्रीय व्यापक सिद्धांतों पर गहराई व बारीकी से पुनर्चिंतन करना चाहता हूं। मेरा मानना है कि ये सिद्धांत इस विवाद में उलझे हुए हैं। इनका सरोकार उन नियमों से है जिनका उपयोग करके एक शांतिपूर्ण बहुलतावादी राजनैतिक समुदाय के रूप में हम साथ रहेंगे, ऐसे नियम जिनकी मदद से हम टकरावों व विवादों का सामना करेंगे, ऐसे नियम जो हमें किसी परस्पर विरोधी विचारों के मामले में किसी न्यायसंगत निर्णय पर पहुंचने और किसी सम्मानजनक समझौते पर पहुंचने में मददगार होंगे। पाठ्यपुस्तक का मामला एक मुश्किल मामला है। लेकिन यदि कोई इस मामले से सार्वजनिक व्यवहारों को निर्देशित करने वाले नियमों पर कुछ साफगोई हासिल कर पाता है, तो इससे हमें तब मदद मिलेगी जब हमें ऐसे ही किसी तरह के टकरावों का सामना भविष्य में करना पड़ेगा। पाठ्यपुस्तक विवाद से अपने संवैधानिक गणतंत्र के लिए कुछ सबक सीखना, शायद राजनैतिक विज्ञान की पाठ्यपुस्तकों का कोई एक बगैर इरादे वाला नतीजा रहा हो!

यह मामला इसलिए भी मुश्किल है क्योंकि यह दावा एक समूह द्वारा संसद के सदनों में किया गया था कि एक मत, एक कार्टून बेहद अपमानजनक है। इससे इस दावे को एक खास मुकाम मिल जाता है क्योंकि यह एक ऐसी जगह पर किया गया जिसे खास तौर पर हमारे लोकतंत्र में अहम् मुद्दों पर बहस करने के लिए बनाया गया था। एक ऐसी जगह जिसे कुछ खास विशेषाधिकार व बचाव यानी प्रतिरक्षाएं मिली हुई हैं, जो कहीं दूसरी जगह हासिल नहीं होते, एक ऐसी जगह जो जानबूझ कर मानहानि, अवमानना या अपराध के कारणों से बचाकर रखी गई है। यह हमारे लोकतंत्र में सबसे आजाद जगहों में से एक है जिसकी तुलना सिर्फ उच्चतम न्यायालय के कमरों से ही की जा सकती है। अगर, ऐसी जगह पर किसी मत में काट-छांट यानी सेंसरशिप की मांग की जाती है क्योंकि मत को एक समूह के लिए बेहद अपमानजनक माना गया है तब अधिकारियों को संविधान द्वारा एक काम सौंपा गया है कि वे ऐसे मत को दुरुस्त करने के लिए तत्परता से उस मांग पर ध्यान दें। यह मामला और भी पेचीदा हो जाता है जब रोक लगाने की मांग कानून बनाने वालों द्वारा खुद की गई है, उन लोगों ने, जिन पर नागरिकों द्वारा यह भरोसा किया जाता है कि वे उनकी नुमाइंदगी करेंगे। जब किसी खास समूह द्वारा की गई मांग, शुरुआत में मुख्यतः दलित चुनाव क्षेत्रों की नुमाइंदगी करने वाले सांसदों की ओर से होकर, दलों व विचारधाराओं की सरहदों को तोड़कर करीब-करीब सभी सांसदों की ओर से लगभग सर्वसम्मति के एक अनूठे पल में उठाई गई हो, तब हमारे गणतंत्र के दो प्रमुख मूल्यों, नुमाइंदगी और अभिव्यक्ति की आजादी के बीच में हम एक गंभीर द्वंद्व पाते हैं।

इसके अलावा भी दलित चुनाव क्षेत्र से की गई मांग पर ज्यादा ध्यान दिया जाना चाहिए क्योंकि हमारी राजनीति, बराबर नागरिकों का भविष्य बनाने की अपनी मुहिम में, मौजूदा वक्त में उन नुकसानों की नैतिक, भौतिक और प्रतीकात्मक मरम्मत के दौर में है, जो कि इन दमित समूहों को अतीत में अपमान व भेदभाव की वजह से पहुंचाए गए थे। हमारी जाहिर प्रतिबद्धता वाले मरम्मत के इस दौर में, जैसे-जैसे हमारा लोकतंत्र बहुत व्यापक दुर्दशा वाले उस दौर से गुजरकर ऐसे दौर में पहुंच रहा है, जिसमें आत्म-सम्मान की गारंटी होगी, अतीत में गहरे अपमान का सामना किए हुए समूहों की गरिमा को सुनिश्चित करने के लिए हर मुमकिन कोशिश की जानी चाहिए। जब ये समूह (या उनके नुमाइंदे) संसद में यह दावा करते हैं कि वे एक कार्टून से खुद को आहत महसूस करते हैं तब हमें उनके दावे को बेहद संजीदगी से लेना चाहिए। इसे सिर्फ राजनीति की ऊंची अटारी मानकर खारिज कर देना और आलोचकों की एक आम धारणा के मुताबिक यह समझना भी ठीक नहीं है कि यह तो राजनीतिज्ञों का आत्म-तुष्ट व्यवहार है।

हमें तुरंत ही इस मांग का जवाब देना चाहिए भले ही हम इस मांग को रखने वाले के इरादों के बारे में कुछ भी सोचते हों। इसलिए सवाल यह है कि हमारे जवाब की प्रकृति क्या होनी चाहिए, ऐसी कौनसी सांस्थानिक प्रक्रियाओं को स्थापित करने की शुरुआत की जानी चाहिए ताकि जब भी ऐसी मांग उठे, उसके साथ पूरी संजीदगी के साथ बरताव किया जाए और ऐसा करते वक्त बड़ी मुश्किलों से हासिल की गई हमारी आजादी पर किसी तरह का समझौता नहीं किया जाए।

मामला और भी पेचीदा हो जाता है जब हमें यह अहसास होता है कि उक्त अपमानजनक सामग्री एक स्कूली पाठ्यपुस्तक में है जिसे राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् के लिए तैयार किया गया था, जो कि एक आधिकारिक निकाय है, जिसका एक काम खास तौर पर पाठ्यचर्या की नई रूपरेखा पर आधारित शैक्षिक सामग्री बनाना था। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् ने विशेषज्ञों की एक समिति को राजनीति विज्ञान की पाठ्यपुस्तकें लिखने के लिए नियुक्त किया था और उनमें से दो को राजनीति विज्ञान के प्रमुख सलाहकार के तौर पर नामित किया था, जो अपने काम की जानकारी सामाजिक विज्ञान के प्रमुख सलाहकार को देते थे। लिखी गई पाठ्यपुस्तकें पहले राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् के अधिकारियों द्वारा यह देखने के लिए जांची-परखी जाती थी कि कहीं उसमें कुछ एतराज के काबिल चीजें तो नहीं है। इसके बाद उनका मूल्यांकन इसी मकसद से बनाई गई राष्ट्रीय निगरानी समिति द्वारा किया जाता

था और जब उन्हें राष्ट्रीय निगरानी समिति द्वारा मंजूरी दे दी जाती थी, तब उन्हें केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड के सामने पेश किया जाता था, जिसमें मंत्री, राजनीतिज्ञ, अधिकारी व शिक्षाविद् होते हैं। इतने अलग-अलग स्तरों पर छानबीन से गुजरने के बाद ही पाठ्यपुस्तकों का स्कूल में दाखिला मुमकिन हो पाया। इस पूरी प्रक्रिया में यह पक्का करने के लिए सुरक्षा के पर्याप्त उपाय किए गए थे कि हमारे संवैधानिक मूल्यों के संदर्भ में कोई भी एतराज के काबिल चीज इन पाठ्यपुस्तकों में न जा पाए। फिर भी अगर संसद को लगता है कि ये पाठ्यपुस्तकें काबिले एतराज हैं, तब लोकतांत्रिक सिद्धांतकारों के तौर पर हमारे पास एक काम है। हमें एक ओर तो संसद की मांग को पूरी संजीदगी से लेना चाहिए, क्योंकि वे हमारे पास मौजूद बेहतरीन राजनैतिक प्रणाली में हमारे नुमाइंदे हैं और दूसरी तरफ, हमें बगैर किसी डर के पूरी आजादी के साथ अपनी राय को अभिव्यक्त करने के हक की हिफाजत करनी चाहिए ताकि हम ऐसी राजनीति को बढ़ावा दे सकें जो अपनी समझ व उम्मीदों में बहुलतावादी व खुलेपन से लबरेज हो। राजनीति विज्ञान की पाठ्यपुस्तकों के इस तरह के मकसद होते हैं कि वे युवा दिमागों में हमारे संवैधानिक गणतंत्र के लिए प्रतिबद्धता पैदा कर सकें।

ऊपर दी गई रूपरेखा के मुताबिक पाठ्यपुस्तक विवाद पर इन चार मुद्दों पर जरूर विचार-विमर्श किया जाना चाहिए: (1) हमारे लोकतंत्र में एक समूह द्वारा किया गया दावा कि वे किसी एक मत से अपने-आपको बेहद आहत महसूस कर रहे हैं इसलिए उस मत पर रोक लगा दी जानी चाहिए। (2) अपमानजनक सामग्री, (3) रोकथाम की मांग को जवाब देने की प्रक्रियाएं और (4) एक राजनैतिक नैतिक सवाल कि अपनी अभिव्यक्ति की आजादी को बचाने के लिए एक समाज को कितने अपमान को सहन करने (या शायद कर सकने) का इच्छुक होना चाहिए।

### रोकथाम यानी सेंसर की मांग

पहला मुद्दा यह है, किसी मत पर रोक लगाने की मांग ने, क्योंकि उसके बारे में यह दावा किया गया है कि वह बेहद अपमानजनक है, आज के वक्त में हमारे राजनैतिक परिदृश्य में प्रमुखता हासिल कर ली है क्योंकि एक-दूसरे के खिलाफ बढ़-चढ़कर बोली लगाने वाली जातियता की बढ़ती राजनीति में अहमियत हासिल कर ली है। 1954 में ओब्रे मेनन की किताब 'द रामायना' पर रोक लगाने से लेकर 1987 में अंबेडकर की 'द रिडल्स इन हिंदुइज्म' को वापस लेने, 1988 में रश्दी की किताब 'द सैटेनिक वर्सेज' पर रोक, 1986 से मकबूल फिदा हुसैन के चित्रों के साथ की गई बर्बरता, 2011 में ए. के. रामानुजन की किताब 'श्री हन्ड्रेड रामायनाज: फाइव एकजाम्पल्स एंड श्री थॉट्स ऑन ट्रांसलेशन' को पाठ्यक्रम से हटा देने तक के मामले में हमारे लोकतंत्र में कम से कम प्रतिरोध का रास्ता अख्तियार करते हुए ऐसी किसी भी मांग के उठते ही तुरत-फुरत रोक लगाने की मुसैदी दिखाई गई है। राजनैतिक सत्ता ने बेहद दबूपना दिखाते हुए हिंसा की धमकी देने वाले समूह की मांग के सामने झुकते हुए एक अहम् संवैधानिक सिद्धांत 'निर्धारित प्रक्रियाओं' का पालन नहीं किया। नतीजे में तंग करने वालों को सृजनात्मक अभिव्यक्ति पर निषेधाधिकार यानी वीटो की ताकत हासिल हो गई।

इस जगह पर आकर, शायद जॉन स्टुअर्ट मिल द्वारा अपनी मशहूर किताब 'ऑन लिबर्टी' में दी गई दलीलों पर गौर करना चाहिए जिसका ताल्लुक किसी भी समाज में अभिव्यक्ति की आजादी की अहमियत से है, जिसमें यह कहा गया है कि क्योंकि किसी भी मत पर रोक नहीं लगानी चाहिए। वे इसके लिए तीन दलीलें देते हैं कि क्यों अभिव्यक्ति की आजादी इतनी महत्त्वपूर्ण है और इसके साथ वे एक चरम हालात का भी उदाहरण देते हैं जिसमें इस पर रोक लगाई जा सकती है। पहले मुझे उन दलीलों को बताने दीजिए। पहली दलील यह है कि अगर सवालों के घेरे में आया हुआ मत सत्य है तो उस पर रोक लगाकर हम समाज को उस सत्य को जानने से महरूम कर रहे होंगे और इस प्रक्रिया में खुद को कमजोर कर रहे होंगे क्योंकि हमारे

पास सत्य नहीं होगा जिस पर हम निर्भर कर सकें। यह सत्य भविष्य के साथ सामंजस्य बिठाने में हमारे लिए एक अहम् स्रोत है ताकि हमारी सामुदायिक जिंदगी में हम विविधता और बहुलता के साथ तालमेल बिठा सकें। क्योंकि यह इस कदर मंहगा वंचितकरण होगा कि एक पेचीदा समाज इस नुकसान को सहन नहीं कर सकता है, इसलिए मत पर हरगिज रोक नहीं लगाई जानी चाहिए।

दूसरी दलील यह है कि सवालों के घेरे में आया मत असत्य हो सकता है लेकिन अगर वह हमारे पास मौजूद है तो हम उसकी तुलना सत्य से कर सकते हैं और खुद को सत्य की सराहना करने की बेहतर हालात में रख सकते हैं। इससे हम सत्य की कद्र करने की खुद की समझ में बेहतर हासिल करेंगे। यह एक और मामला है जो हमें इस बात के लिए मजबूर करता है कि क्यों किसी मत पर रोक नहीं लगानी चाहिए। तीसरी दलील यह है कि अगर हम मतों पर रोक लगाना आरंभ करते हैं तो हम रोक लगाने की आदत बना रहे होंगे और इससे हमारी सीमा-रेखा या दहलीज कम से कमतर होती जाएगी और हम ऐसे किसी भी मत पर रोक लगाने के लिए तैयार हो जाएंगे जिसे हम असुविधाजनक मानेंगे।

आलोचनात्मक मतों या असहमतिपूर्ण आवाजों के साथ जीने में हमें काफी कुछ सहन करना पड़ेगा और हम किसी मत पर रोक लगाने के फुसलावे में आकर झुक सकते हैं। रोकथाम करने की आदत बहुत जल्द ही एकरंगी समाज की ओर धकेलने लगेगी। हम ऐसे रास्ते पर चल पड़ेंगे कि उसमें कई सारे वितंडावादी पैदा हो जाएंगे और उनकी मांगें और धमकियां कर्कश होती जाएंगी। राजनैतिक और कानूनी दर्शन पर, एक मुक्त समाज में अभिव्यक्ति की आजादी की केन्द्रीयता के मुद्दे पर रचे गए साहित्य में मिलकर इन सूक्तियों या उसूलों पर बहुत विस्तृत चर्चा की गई है और इसलिए पाठ्यपुस्तक विवाद हमारे लिए एक अच्छा मौका है कि उन मूल्यों को एक बार फिर से पहचानें। चौथी दलील भी मिल से ही ली जा सकती है, जिसे वे 'नुकसान का सिद्धांत' कहते हैं, यह उनके लिए है जो मतों पर रोकथाम पर विचार करने के तमन्नाई हैं। वे कहते हैं कि सवालों के घेरे में आए मत से यह साफ जाहिर होना चाहिए कि वह किसी निश्चित इंसान के किसी निश्चित अधिकार को नुकसान पहुंचा रहा है। समाज को पहुंचाया जाने वाला सामान्य नुकसान, जैसे कि सार्वजनिक नैतिकता के लिए होने वाले नतीजों के रूप में, काफी नहीं है। यह जरूर प्रदर्शित किया जाना चाहिए कि किसी निश्चित इंसान के किसी निश्चित अधिकार को नुकसान (और छोटा-मोटा नहीं बल्कि गंभीर किस्म का) पहुंचा है। इस प्रदर्शन को सांस्थानिक तौर पर कड़ाई के साथ जरूर जांचा-परखा जाना चाहिए। सिर्फ इन मामलों में ही किसी मत पर रोक लगाना वैधानिक होगा।

इन सिद्धांतों को ध्यान में रखते हुए हम भारत में मतों पर रोकथाम की बढ़ती मांग पर लौटकर फिर विचार कर सकते हैं। यह बहुत साफ है कि हमें इस बात को विधिवत स्वीकारना पड़ेगा कि भारत जैसे बहुलतावादी देश में, जहां पर पहचान की राजनीति विभिन्न समूहों के लिए पवित्रता के कार्यक्षेत्र को फिर से सामने ला रही है, समूह की सरहदों को नियंत्रित करने के लिए पवित्रता की धारणा जरूरी है, नीचा दिखाए जाने को महसूस करने के हालात ज्यादा आम हो सकते हैं। जैसे ही कोई समूह अपनी-अपनी जगह बनाने के खेल में शामिल होता है, तब सार्वजनिक दायरे में महत्वपूर्ण जगह पर कब्जा करने के लिए कई रणनीतियों का इस्तेमाल करता है ताकि वह अपने अनुयाइयों को लामबंद कर सके और अपने दावों को मंजूरी दिलाने के लिए राजनैतिक प्रणाली पर दबाव डाल सके। उनमें से एक रणनीति किसी मत द्वारा गहराई से आहत होना या नीचा दिखाया जाना है, जो कि किसी भी मामूली से कारण से समूह के गर्व को ठेस पहुंचाना हो सकता है या किसी भी किताब, फिल्म, चित्र, खेल, गाने या कार्टून से हो सकता है। चूंकि इसी दिशा में हमारी राजनीति आगे बढ़ रही है, इसलिए हमारे राजनैतिक तंत्र को ऐसी मांगों का सामना करने की प्रक्रियाएं और परंपराएं गढ़नी चाहिए और यह पक्का करना चाहिए कि उनमें हमारी अभिव्यक्ति की आजादी के साथ कोई समझौता नहीं किया गया हो। दूसरे शब्दों में, हमें आहत होने के दावे को जरूर स्वीकार करना चाहिए, सांस्थानिक तौर पर उस पर ध्यान देना चाहिए, अगर जरूरी हो तो आजाद समाज के उसूलों को

ध्यान में रखते हुए नए संस्थान बनाए जाने चाहिए और तब आधिकारिक जवाब दिया जाना चाहिए, जो कि हमारे लोकतंत्र को, आज हमें जितनी आजादी हासिल है उससे और ज्यादा आजादी का ओर ले जाए। मुझे इस बात का डर है कि जब हम किसी वितंडावादी के निषेधाधिकार/वीटो के सामने झुक जाते हैं और हिंसा की पहली धमकी के आगे ही हथियार डाल देते हैं, तब हम ऐसा नहीं कर रहे होते हैं।

इस तरह के जवाब देने के लिए कि हमारा लोकतंत्र ज्यादा आजादी की ओर बढ़े, हमें सार्वजनिक बहस, शिक्षा और राय-मशवरे के ज्यादा मजबूत तौर-तरीके विकसित करने की जरूरत पड़ेगी। हमें ऐसी प्रबुद्ध राजनैतिक नेतृत्व को बढ़ावा देने की जरूरत पड़ेगी जो कि हमारे संवैधानिक मूल्यों का बचाव करने की ख्वाहिश रखती हो। इस मामले में संविधान सभा की बहसें प्रेरणादायक थीं, आजादी के अधिकार के बारे में उन्होंने क्या कहा था, इसके लिए हम महबूब अली बेग साहिब बहादुर को सुनते हैं:

श्रीमान, मुझे यह लग रहा है कि अगर अनुच्छेद (1) में सूचीबद्ध किए गए बुनियादी अधिकारों को सिर्फ अनुच्छेद (2) व (6) के अंतर्गत ही वंचित किया जा सकता है, तो पहली बात तो यह है कि ये बुनियादी अधिकार मौजूदा कानूनों के अधीन होंगे। अगर अतीत में बने कानून लागू रहते हैं, तो मैं उन्हें कानून विहीन कानून कहूंगा, दमनकारी कानून, ऐसे कानून जो कि नागरिकों को मानवाधिकारों से वंचित करने के लिए बनाए गए थे। अगर उनमें नागरिकों को धारा (2) से (6) के अंतर्गत किए गए प्रावधानों के अंतर्गत इन अधिकारों से वंचित किया गया है, तो वे ऐसा करना जारी रखेंगे। जिन कानूनों का मैं जिक्र कर रहा हूँ, वे हैं, फौजदारी कानून, संशोधन अधिनियम, प्रेस अधिनियम और कुछ सुरक्षा अधिनियम, जो कि प्रांतों में बनाए गए हैं। और ये धारा (2) से (6) तक में आगे कहते हैं कि मौजूदा कानून उतने कड़े नहीं हैं, अनुच्छेद 7 में परिभाषित किए गए राज्य में, जिसमें न सिर्फ विधायिका, बल्कि कार्यकारी सरकारें और स्थानीय निकाय भी हैं, यहां तक कि स्थानीय अधिकारी भी कह सकते हैं। मैं बात को बढ़ा-चढ़ाकर नहीं कह रहा हूँ। मैं अभी दिखाऊंगा कि मेरी इस आलोचना में रत्ती भर भी अतिशयोक्ति नहीं है। बुनियादी अधिकार बुनियादी हैं, एकदम स्थाई, पवित्र और इस बात की गारंटी की जानी चाहिए कि वे सिर्फ कार्यपालिका और विधायिका के अधिकार क्षेत्र को छोड़कर, राज्य की बलपूर्वक सत्ता के खिलाफ भी सुरक्षित रहेंगे। यदि कार्यपालिका और विधायिका को इसके अधिकार क्षेत्र से बाहर नहीं रखा गया तो ये सिर्फ साधारण अधिकार बनकर रह जाएंगे और बुनियादी होने का हक खो बैठेंगे। बुनियादी अधिकारों की यही सार्थकता है, अहमियत है।

### आरोपी 'अपमानजनक' सामग्री

आरोपित सामग्री की विषयवस्तु एक दूसरा मुद्दा है जिसकी जांच-परख किए जाने की जरूरत है। मौजूदा मामले में दी गई तीन दलीलों को संबोधित किए जाने की जरूरत थी। पहला यह है कि कार्टून अंबेडकर को नीचा दिखाता है। ऐसा है या नहीं, यह व्याख्या का मुद्दा है और इसलिए सिर्फ सामग्री की विषयवस्तु के आधार पर कोशिश करना और निर्णय करना मुमकिन नहीं है। हमें इस बात को जरूर पहचानना चाहिए कि हमारा लोकतंत्र एक ऐसे दौर में पहुंच चुका है, जिसमें हर चीज पर संसाधनों के बंटवारों से लेकर प्रतीकात्मक नुमाइंदगी तक में गहन विवाद है और ऐसे विवादों के कुछ मामलों में व्यवहारिक समायोजन हो जाता है जबकि कुछ दूसरों में ऐसे हालात बन जाते हैं कि अलग-अलग पक्षों में किसी किस्म का कोई सामंजस्य नहीं बैठ पाता है। यहां पर हम सब यह कोशिश कर सकते हैं कि ऐसी प्रक्रियाओं पर सहमति बनाएं जो कि इस तरह के विवादों का सामना कर सके। इन्हें हमारे संवैधानिक तंत्र के साथ जुड़े होना चाहिए और वक्त गुजरने के साथ-साथ परंपराओं के समूह से समर्थित होना चाहिए। तब जाकर ये प्रक्रियाएं उचित होने की वैधता हासिल कर पाएंगी

## जवाब देने के तौर-तरीके

इसलिए अंबेडकर को कार्टून के जरिए नीचा दिखाए जाने के दावे को संजीदगी से लिया जाना चाहिए था और उसे उपयुक्त संस्थान के पास जांच-परख के लिए भेजा जाना चाहिए था। वह संस्थान संसद नहीं हो सकती। अगर ऐसा होता है तो यह सत्ता या ताकत के घनीभूत होने के अर्थों में बहुत ही निरंकुशतापूर्ण तथा खतरनाक होगा। अगर यह वह निकाय होने वाली है जो कि सामग्री के अपमाजनक होने के बारे में इस तरह के दावों या मांगों के बारे में तय करेगी, तब तो अभिव्यक्ति की आजादी सुरक्षित नहीं रह पाएगी। संसद सिर्फ विचार-विमर्श करने का निकाय है जहां इस किस्म के दावों या मांगों को रखा जा सकता है। शिकायतों को सुने जाने के मामले में सरकार का उपयुक्त जवाब यह होना चाहिए था कि वह अपने सदस्यों को आश्वस्त करती कि दावे को उपयुक्त निकाय के पास भेज दिया जाएगा, जो कि उसका अध्ययन करके, उस पर की जाने वाली कार्यवाही की सिफारिश करेगा।

प्रतिबंध लगाने के लिए दूसरी दलील यह थी कि पाठ्यपुस्तक में दिए गए कार्टून राजनीतिज्ञों की कद्र को कम करते हैं और इस अर्थ में हमारे लोकतंत्र को कम करके आंकते हैं। यह भी, पहली नजर में, उपयुक्त निकाय द्वारा जांच-परख किए जाने की मांग करता है क्योंकि इस बात की परस्पर विरोधी व्याख्याएं हो सकती हैं कि असल में यह मामला था भी या नहीं। इस दावे की वैधता की जांच करने के लिए किसी को भी कई कार्टूनों का अध्ययन करना पड़ेगा, उसमें शामिल जुदा-जुदा संदेशों की जांच-परख करनी पड़ेगी और यह भी देखना पड़ेगा कि वे सभी मिलकर किस तरह का अर्थ गढ़ते हैं, जैसे, किसी लिखित सामग्री को उसकी पूरी समग्रता में लेने की शर्त को पूरा करना, इस तरह के शिक्षणशास्त्र या कार्यनीति के जरिए दिए जाने वाले संदेश के मूल्य पर चर्चा करना, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् में यह लिखित सामग्री मूल्यांकन की जिस प्रक्रिया से गुजरी है, उसकी जांच-परख करना। इसे भी किसी उपयुक्त प्राधिकरण द्वारा किया जाना चाहिए था, जो कि संसद नहीं है।

तीसरी दलील का वास्ता युवा दिमागों को प्रभावित करने से है। पाठ्यपुस्तकों के आलोचकों का यह मानना है कि सामग्री राजनेता वर्ग पर घृणा उड़ेलती है और इसलिए आसानी से प्रभावित किए जा सकने वाले दिमागों को इस तरह की सनकी सामग्री से बचाना चाहिए। इसके उलट, पाठ्यपुस्तकों के समर्थक दलील देते हैं कि यह लिखित सामग्री जानबूझ कर खुले सिरे वाली रखी गई है ताकि युवा दिमागों को सवाल उठाने और जांच-परख करने के लिए बढ़ावा दिया जा सके। कुछ का कहना है कि हमें युवा दिमागों का संरक्षण करना चाहिए, खास तौर पर क्योंकि युवा दिमाग कमजोर होते हैं, चूंकि किसी भी सभ्य समाज को चिंता होती है कि उसके युवा दिमाग इंटरनेट पर, टी.वी. पर और निश्चित तौर से सरकारी पाठ्यपुस्तकों में से क्या हासिल कर रहे हैं। पाठ्यपुस्तकें नई पीढ़ी के नागरिकों को गढ़ने का एक अहम् स्रोत हैं और उन तक क्या पहुंचता है, यह हमारी चिंता का विषय है। लेकिन जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि उन तक जो चीज पहुंचती है वह उपयुक्त प्राधिकरण द्वारा जांची-परखी गई थी और इसलिए जब संसद में एतराज उठाए गए थे कि पाठ्यपुस्तकों में क्या था, तब विधायिका को इस बात पर सहमत होना चाहिए था कि उन एतराजों को आगे राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद्, राष्ट्रीय निगरानी समिति, केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड तक भेजा जाएगा। संसद के पटल पर सारांश में नतीजा निकाल लेना संवैधानिक लिहाज से अनुचित है। यहां पर इस दलील पर जोर दिया जाना जरूरी है कि संसद किसी भी मामले में 'पहले उपाय' के तौर नतीजा निकालने का मंच नहीं है, कि सार्वजनिक दायरे में किस मत को मंजूरी दी जानी चाहिए।

*...जब संसद में एतराज उठाए गए थे कि पाठ्यपुस्तकों में क्या था, तब विधायिका को इस बात पर सहमत होना चाहिए था कि उन एतराजों को आगे राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद्, राष्ट्रीय निगरानी समिति, केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड तक भेजा जाएगा। संसद के पटल पर सारांश में नतीजा निकाल लेना संवैधानिक लिहाज से अनुचित है।*

चूँकि संसद ने कामकाज के लिए सहायक निकायों का गठन किया है तो उसे ऐसे निकायों को कामकाज करने देना चाहिए। अगर ऐसे और निकायों की जरूरत है तो हमें उन्हें जरूर बनाना चाहिए, ताकि वे यह निर्णय लेने में संसद की मदद कर सकें कि 'आखिरी उपाय' के तौर पर किसकी रोकथाम की जानी चाहिए। मिल का नुकसान का सिद्धांत जरूर ध्यान में रखना चाहिए। अपमानजनक सामग्री को नुकसान के सिद्धांत को जरूर पास करना चाहिए। पाठ्यपुस्तक के मामले में सभी जरूरी संस्थान मौजूद थे - राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद्, राष्ट्रीय निगरानी समिति और केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड। इन निकायों ने शायद अपना काम बेहतर तरीके से किया होगा लेकिन अगर इन्होंने अपना काम ठीक से नहीं भी किया, जैसा कि संसद में हुई बहस से जाहिर होता है, तब हमें इस बात की जरूर जांच-परख करनी चाहिए कि ऐसा क्यों हुआ होगा। इससे हमें यह पता चलेगा कि हमारी निरीक्षण समितियाँ कैसे काम करती हैं, उनमें काम करने की गंभीरता की संस्कृति का स्तर क्या है और उनके कामकाज को बेहतर करने के लिए क्या कदम उठाए जाने चाहिए। यहां पर निरीक्षण समितियों के कामकाज में रह गई खामियों की छानबीन हमारे संवैधानिक तंत्र को मजबूत करने में मददगार होगी, इसलिए यहां पर अध्ययन इस बात का किया गया है कि बड़ी मुश्किलों से हासिल की गई आजादी को बचाकर कैसे रखा जाए। संसद तो सबसे आखिर में दखलंदाजी करने वाला निकाय होना चाहिए। पाठ्यपुस्तक विवाद में राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद्, राष्ट्रीय निगरानी समिति और केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड सरकारी काम-काज के सहायक निकाय हैं।

### समाज कितना अपमान सहन कर सकता है?

इससे हमारे सामने यह मुद्दा आ खड़ा होता है जिसका हम पिछले 60 बरसों से जवाब देना टालते आ रहे हैं : आखिरकार एक समाज को किस हद तक अपमान को सहन करना चाहिए? इस नियामक या मानदंड संबंधी सवाल का जवाब अलग-अलग समाजों में अलग-अलग होगा और यह उनकी सार्वजनिक संस्कृतियों और उनके उन बुनियादी मूल्यों पर निर्भर करेगा जिनका टकराव वे अभिव्यक्ति की आजादी के साथ मानते हैं। क्या विरोध के परिणामस्वरूप जीवन खो दिया जाएगा? क्या समुदायों के बीच मौजूद भुरभुरी-सी शांति बिखर जाएगी? क्या हमारी सार्वजनिक संस्कृति इस अनादर के लिए तैयार है? रश्दी के मामले में हमें हमारे समाज में अपवित्रता की हालत का सामना करना पड़ा था। मकबूल फिदा हुसैन के खिलाफ मुहिम, महाराज शिवाजी राव विश्वविद्यालय, वडोदरा में कला प्रदर्शनी में मचे उपद्रव, भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट में मची तोड़-फोड़ आदि इस सवाल को हमारे पिछवाड़े से उठाकर सामने के चौक में लाकर रख देते हैं। अगर हम अपनी अभिव्यक्ति की आजादी के दायरों को बढ़ाना चाहते हैं और हमारी सार्वजनिक जगहों को वितंडवादियों के हाथों में नहीं सौंप देना चाहते हैं तो हमें इससे जूझना पड़ेगा। जैसा कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा था...

किसी के द्वारा अपने देश को हासिल करने का मतलब अपने खुद के प्राणों को उसके भीतर पूरी तरह से बसा पाना है। यह सिर्फ तभी किया जा सकता है जब हम अपनी सेवाओं, अपने विचारों और अपने कर्मों से इसे गढ़ने में जुट जाते हैं। इंसान का देश उसके अंदरूनी स्वभाव की ही सर्जना होती है, जब उसके प्राण उसके भीतर बस जाते हैं, तभी वह पूरी सचाई के साथ अभिव्यक्त हो पाता है, कामयाबी के साथ पूरा हासिल हो पाता है।<sup>2</sup>

यहां हमारे प्राण दांव पर लगे हैं। ♦

भाषान्तर : रवि कान्त

(इकनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली से साभार)

### टिप्पणी

1. संविधान सभा बहस, 1-2 दिसम्बर, 1948
2. सब्यसाची भट्टाचार्य द्वारा द महात्मा एण्ड द पॉइंट में संकलित, एनबीटी, 1977, पृ. 71